पाश्चात्य दर्शन में सामान्य की वस्तुवादी अवधारणा

AMIT KUMAR SINGH
Research Scholar
DEPARTMENT OF PHILOSOPHY, UNIVERSITY OF ALLAHABAD

Abstract- समान रूप से दिखने वाली अथवा एक वर्ग के अन्दर आने वाली वस्तुओं में वह सर्वव्यापी गुण अथवा धर्म जिससे वस्तुएँ एक जाति के अन्तर्गत रखी जाती हैं, सामान्य कहलाता है। सामान्य एक अमूर्त गुण है, विशेषता है, एक सम्बन्ध है, जो कि पुरुष, स्त्री, ठोस, द्रव, गैस अथवा एक निश्चित रंग, किसी में भी हो सकता हैं। सामान्य वह है जिसके कारण भिन्न–भिन्न व्यक्ति एक वर्ग अथवा एक जाति के अन्तर्गत समाविष्ट होकर एक नाम से जाने जाते हैं। सामान्य से सम्बन्धित प्रश्नों का उत्तर देने के लिए दार्शनिकों ने वस्तुवाद, अवधारणावाद, नामवाद और सादृश्यतावाद नामक सिद्धान्त प्रतिपादित किये हैं। सामान्य की वस्तुवादी अवधारणा के अनुसार सामान्य न तो केवल नाम हैं और न ही किसी के मन की अवधारणा, बल्कि सामान्यों की सत्ता वास्तविक है। वस्तुवादी सिद्धान्त के समर्थक सामान्यों को स्वतन्त्र और वस्तुनिष्ठ मानते हैं जिस प्रकार एन्द्रिक–जगत् की विशिष्ट वस्तुएँ सत्य हैं उसी प्रकार सामान्य भी वस्तुनिष्ठ रूप से सत्य है। पश्चिमी दर्शन में सामान्य के वस्तुवादी सिद्धान्त के समर्थकों में प्लेटो, अरस्तू, रसेल के नाम प्रमुख है।

भूमिका–सामान्य के वस्तुवादी अवधारणा पर विचार करने से पहले हमें 'सामान्य' शब्द पर विचर कर लेना चाहिए। सामान्य क्या है, सामान्य से सम्बन्धित समस्या क्या है आदि। दर्शन के इतिहास में सामान्य की समस्या एक महत्वपूर्ण समस्या है। अस्तित्व के सन्दर्भ में यह तत्वमीमांसा से सम्बन्धित है। अस्तित्व का अर्थ है कि सामान्य की सत्ता है अथवा नहीं ? सामान्य का अर्थ किसी वर्ग की वस्तुओं अथवा व्यक्तियों में पाये जाने वाले सर्वगत लक्षणों से है अर्थात् समान रूप से दिखने वाली अथवा एक वर्ग के अन्दर आने वाली वस्तुओं में वह सर्वव्यापी गुण अथवा धर्म जिससे वस्तुएँ एक जाति के अन्तर्गत रखी जाती हैं, सामान्य कहलाता है। सामान्य एक अमूर्त गुण है, विशेषता है, एक सम्बन्ध है, जो कि पुरुष, स्त्री, ठोस, द्रव, गैस अथवा एक निश्चित रंग, किसी में भी हो सकता हैं। सामान्य वह है जिसके कारण भिन्न–भिन्न व्यक्ति एक वर्ग अथवा एक जाति के अन्तर्गत समाविष्ट होकर एक नाम से जाने जाते हैं उदाहरणार्थ राम, रहिम, हरि इत्यादि व्यक्ति आकार, रंग, लम्बाई आदि भेद के कारण अलग–अलग व्यक्ति के रूप में जाने जाते हैं, परन्तु एक सर्वगत गुण मनुष्यता के कारण 'मनुष्य' संज्ञा से अभिहित किया जाता है, इसे ही सामान्य कहा जाता है। हम कई बार ऐसी वस्तुओं के बारे में बात करते हैं जो बात करते समय उपस्थित नहीं होती और हम फिर भी वस्तुओं के समूहों या समुच्चयों के बारे में बात करते हैं। यह केवल भाषा में अनेकव्यापी शब्दों की उपस्थिति से ही सम्भव है। वास्तव में, यदि हम व्यक्तिवाचक नामों (जैसे जॉन, ब्राउन और वाशिंगटन डी० सी०) और संकेतवाचक शब्दों जैसे 'यह' और 'वह' को एक तरफ रख दें, तो शेष सभी शब्द अनेकव्यापी हैं।[1]

अब प्रश्न उठता है कि अनेकव्यापी शब्द क्या है? अनेकव्यापी शब्द (जैसे– मेज, बन्दर इत्यादि) ऐसे शब्द हैं जो किसी विशेष का नहीं बल्कि विशेषों के किसी लक्षण या गुण का अर्थात् एक सामान्य का बोध कराता है। सामान्य वह है जो विशेषों को विशेषित करता है, पर उनसे भिन्न होता है। सामान्य वह है जो

हमारे द्वारा साधारणतः एक ही नाम से पुकारी जाने वाली सब वस्तुओं में समान होता है, जैसे वह जो साधारणतः मेज कहलाने वाली सभी वस्तुओं में समान है।[2] ग्रीक विचारधारा में सोफिस्ट विचारकों ने ज्ञान का आधार इन्द्रिय–प्रत्यक्ष को माना था[3], जिसका परिणाम यह हुआ कि वस्तुनिष्ठ सत्य नष्ट हो गया, परन्तु महान ग्रीक दार्शनिक सुकरात ने सत्य की वस्तुनिष्ठता को स्थापित करने के लिए ज्ञान को बुद्धि पर आधारित किया और घोषित किया कि समस्त ज्ञान सम्प्रत्ययों से निर्मित हैं।[4]सम्प्रत्ययों के बारे में यह प्रश्न स्वभावतः उठता है कि क्या ये सम्प्रत्यय और शब्द सत्य हैं ? क्या ये सम्प्रत्यय हमें बाह्य जगत का कोई ज्ञान प्रदान करते हैं ? क्या हमारे मन में स्थित सामान्य प्रत्यय अथवा हमारी भाषा का सामान्य शब्द किसी ऐसी वस्तु को निर्दिष्ट करता है जो वस्तुनिष्ठ दृष्टि से वास्तविक है ? क्या सामान्य विशेषों से भिन्न हैं ? इस प्रकार के अनेक प्रश्न सम्प्रत्यय की अवधारणा से जुडे हुए हैं दर्शन के इतिहास में सामान्य से सम्बन्धित इन प्रश्नों का उत्तर देने के लिए दार्शनिकों ने वस्तुवाद, अवधारणावाद, नामवाद और सादृश्यतावाद नामक चार सिद्धान्त प्रतिपादित किये हैं। प्लेटो, अरस्तू और रसेल ने सामान्य के वस्तुवादी सिद्धान्त का समर्थन किया है।

सामान्य की वस्तुवादी अवधारणा–सामान्य की वस्तुवादी अवधारणा के अनुसार सामान्य न तो केवल नाम हैं और न ही किसी के मन की अवधारणा, बल्कि सामान्यों की सत्ता वास्तविक है। वस्तुवादी सिद्धान्त के समर्थक सामान्यों को स्वतन्त्र और वस्तुनिष्ठ मानते हैं जिस प्रकार एन्द्रिक–जगत् की विशिष्ट वस्तुएँ सत्य हैं उसी प्रकार सामान्य भी वस्तुनिष्ठ रूप से सत्य है। पश्चिमी दर्शन में सामान्य के वस्तुवादी सिद्धान्त के समर्थकों में प्लेटो, अरस्तू, रसेल के नाम प्रमुख है। पाश्चात्य दर्शन के साथ–साथ भारतीय दर्शन के न्याय–वैशेषिक दर्शन और मीमांसा दर्शन के अनुयायी सामान्य की वस्तुवादी अवधारणा को स्वीकार करते हैं।

प्लेटो का सामान्य सम्बन्धी सिद्धान्त–ग्रीक दार्शनिक प्लेटो को सामान्य के वस्तुवादी सिद्धान्त का आदि प्रवर्तक माना जाता है। प्लेटो के दर्शन में सामान्य को प्रत्यय की संज्ञा दी गयी है। प्लेटो का प्रत्यय सिद्धान्त उनके दर्शन का केन्द्रीय सिद्धान्त है। प्लेटो ने अपने प्रत्यय सिद्धान्त में 'सामान्यों' के स्वरूप का ही विवेचन किया है। प्लेटो के दर्शन पर उससे पहले के ग्रीक दार्शनिकों पार्मेनाइडीज, सुकरात, पाइथागोरस और हेरेक्लाइटस का भी प्रभाव पड़ा है। प्लेटो ने पार्मेनाइडीज के बुद्धिवाद को आधार बनाया तथा प्रत्यय को नित्य कहा। पार्मेनाइडीज ने वस्तुवाद को अपनाया था, जिसके अनुसार ज्ञान के विषय की वास्तविक सत्ता होती है। प्लेटो ने इस सिद्धान्त का विकास करके संवादिता सिद्धान्त (Theory of Correspondence) की स्थापना की, जिसके अनुसार वास्तविक ज्ञान वह है जिसके अनुरुप वास्तविक सत्ता भी विद्यमान हो। प्लेटो ने सुकरात से प्रभावित होकर बुद्धिवाद और ज्ञान की वस्तुनिष्ठता को स्वीकार किया। पाइथागोरस की संख्या से प्रभावित होकर प्लेटो ने अपने प्रत्ययों की विशेषताएँ बताते हुए प्रत्ययों को संख्याएँ कहा है। हेराक्लाइटस का प्रभाव भी प्लेटो पर सीमित रूप से दिखाई देता है। हेराक्लाइटस के अनुसार गति, परिणाम, परिवर्तन प्रवाह और संतान ही एक मात्र सत्य है। हेराक्लाइटस ने अनित्यता या परिवर्तनीयता को सत्य माना था। प्लेटो पार्मेनाइडीज से प्रभावित होने के बावजूद परिवर्तनीय जगत् को पूर्णतः असत् नहीं माना। प्लेटो का प्रत्यय सिद्धान्त हेरेक्लाइटस और पार्मेनाइडीज दोनों के मतों को स्वीकार करता है, पर उनके क्षेत्र को सीमित कर देता है। इन दोनों मतों में आत्यान्तिक विरोध होने के कारण उनका क्षेत्र असीमित नहीं हो सकता। यही कारण है कि प्लेटो ने सम्पूर्ण जगत् को दो भागों में विभाजित किया–**व्यावहारिक जगत्**–जो गति और परिणाम का साम्राज्य है।

पारमार्थिक जगत्–जो नित्य और अपरिणामी है। जहाँ तक व्यावहारिक जगत् का प्रश्न है, हेरेक्लाइटस का मत चरितार्थ होता है, पर पारिमार्थिक जगत् के विषय में पार्मेनाइडीज का मत सत्य है।

प्लेटो के अनुसार, वास्तविक ज्ञान केवल प्रत्ययों अथवा सामान्य विज्ञानों का ही सम्भव है। प्रत्यय या विज्ञान जो अपरिणामी, सामान्य, नित्य तथा वस्तुओं के सारभूत तत्व है, हमारे ज्ञान के एक मात्र 'विषय' है। इन्द्रिय–जगत जिसमें अनित्यता, संदेह, सापेक्षता का साम्राज्य है, हमारे ज्ञान के विषय कदापि नहीं हो सकते। प्रत्यय या विज्ञान ही ज्ञान के वास्तविक विषय है, क्योंकि वे नित्य, सार्वभौम और असंदिग्ध है। प्लेटो का प्रत्ययवाद एक तत्वसम्बन्धी सिद्धान्त है, जिसके अनुसार विज्ञान केवल 'मानसिक' या 'आत्मगत' ही नहीं है, अपितु स्वतन्त्र, वस्तुतन्त्र अथवा वास्तविक इकाइयाँ हैं जो इन्द्रिय जगत की वस्तुओं के सारभूत तत्व हैं। प्लेटो के प्रत्यय या विज्ञान इन्द्रिय जगत की वस्तुओं के उपादान कारण हैं।

प्लेटो का विज्ञानवाद या प्रत्ययवाद सत्य के यथार्थवाद पर आधारित है। इस विषय में प्लेटो वस्तुवादी हैं। यथार्थवाद का अर्थ यह है कि सत्य हमारे मानसिक प्रत्ययों और बाह्य तथ्यों के सामंजस्य अथवा सादृश्य का प्रतिफल होता है उदाहरण के लिए यदि हमारे मन में 'झील' का प्रत्यय है तो यह प्रत्यय वास्तविक तभी समझा जाएगा, जबकि हमारे 'झील' प्रत्यय की संगति में कोई बाह्य 'झील' जगत् में स्थित हो, किन्तु यदि आत्मा से स्वतन्त्र जगत् में ऐसा कोई बाह्य पदार्थ नहीं है तो हमारा प्रत्यय असत्य या अयथार्थ समझा जायेगा। यथार्थ बिम्ब और प्रतिबिम्ब की परस्पर संगति का परिणाम होता है। इसीलिए प्लेटो के सत्य के सिद्धान्त को प्रत्यय प्रतिनिधित्ववाद भी कहते हैं। प्लेटो ने इसी यथार्थ सिद्धान्त को अपने प्रत्ययों के प्रतिपादन के लिए माध्यम बनाया जिसे हम इस प्रकार व्यक्त कर सकते हैं– वास्तविक ज्ञान प्रत्ययात्मक होता है अर्थात् ज्ञान यथार्थ तभी होगा जब प्रत्यय यथार्थ होगा, पर प्रत्यय यथार्थ तभी समझा जाएगा जबकि इसकी संगति बाह्य और वस्तुनिष्ठ विज्ञानों के साथ हो। इस प्रकार प्रत्ययों की यथार्थता के लिए बाह्य विज्ञानों का होना अनिवार्य है। अतः विज्ञान या प्रत्यय सत्य है। प्रत्यय जन्य ज्ञान को सत्य मान लेने पर इन्द्रिय–जन्य ज्ञान असत्य हो जाता है। हम इन्द्रियों द्वारा अनेक अश्व देखते हैं, किन्तु बुद्धि हमें एक सामान्य अश्व का प्रत्यय प्रदान करती है। यदि प्रत्यय एकमात्र सत्य है तो इन्द्रिय–जन्य ज्ञान मिथ्या है। इसका अर्थ यह हुआ कि इन्द्रियों से ज्ञेय बाह्य वस्तुओं की वास्तविक सत्ता नहीं है। अतः सामान्य अश्व की ही वास्तविक सत्ता है विशेष अश्व असत्य है।

प्लेटो ने अपने प्रत्ययों को 'सामान्य' कहा है। जगत् के अनेक विशेषों या व्यक्तियों की सत्ता सामान्य के कारण ही सम्भव है। 'सामान्य' नित्य होते हैं इसकी न तो उत्पत्ति होती है और न ही इनका विनाश ही होता है। यह बुद्धि की कल्पना नहीं बल्कि इसकी सत्ता यथार्थ है। विशेष 'सामान्य' में भाग लेते हैं या विशेष सामान्य के ही 'प्रतिबिम्ब' या प्रतिरूप हैं। प्लेटो इस जगह एक दिव्यलोक की बात करते हैं जहाँ प्रत्यय रहते हैं। प्लेटो के प्रत्यय द्रव्य–स्वरूप है। प्लेटो के अनुसार द्रव्य वह है, जिसकी स्वतन्त्र सत्ता हो, जो निरपेक्ष हो। प्रत्यय भी द्रव्य की भाँति निरपेक्ष, स्वतन्त्र और सारभूत तत्व है। ये किसी अन्य पर आश्रित नहीं हैं। जगत् की सभी वस्तुएँ प्रत्ययों पर आश्रित हैं। प्लेटो ने अपने प्रत्ययों को वस्तुरूप नहीं बल्कि विचार रूप माना है। प्रत्ययों को वस्तुगत कहने का तात्पर्य यह नहीं है कि ये भौतिक वस्तु की तरह अपना अस्तित्व रखते हैं। इनका अस्तित्व विचाररूप है अर्थात् प्रत्यय वस्तु नहीं बल्कि विचार है। हमें सामान्य अश्व कहीं भी दिखाई नहीं पड़ता। प्लेटो प्रत्यय को विचाररूप मानते हुए भी इसको किसी के मन की उपज नहीं मानते। प्रत्यय व्यक्तिनिष्ठ नहीं होते परन्तु वस्तुनिष्ठ होते हैं। उनकी सत्ता किसी अन्य पर निर्भर नहीं है। उनकी सत्ता स्वयं है। प्लेटो के प्रत्यय इस भौतिक जगत् के निवासी न होकर अतीन्द्रिय जगत् के निवासी हैं। भौतिक जगत् की वस्तुएँ देश और काल द्वारा आवृत है किन्तु प्रत्यय देश

कालावच्छिन्न होने के कारण भौतिक जगत् से अलग आदर्श लोक में निवास करते हैं।यह आदर्श लोक एन्द्रिक लोक से सर्वथा भिन्न है। यहाँ की वस्तुएँ कूटस्थ नित्य, अविनाशी, अपरिणामी, सार्वभौम, निरपेक्ष, स्वतन्त्र और सामान्य है। यहाँ जरामरण और नष्ट होने का भय नहीं, यह प्रत्ययों का दिव्य लोक है।

अरस्तू का सामान्य सम्बन्धी सिद्धान्त–अरस्तू के तत्वमीमांसीय सिद्धान्त का विकास सहज रूप से प्लेटो के प्रत्यय–सिद्धान्त की आलोचना से प्रारम्भ होता है। अरस्तू ने प्लेटो के प्रत्ययवाद की जहाँ कहीं अवसर मिला डटकर आलोचना की तथा अपने और प्लेटो के दर्शन के अन्तर को प्रदर्शित करने का सदैव अवसर ढूँढा।[5] प्रोफेसर गोम्पर्ज के अनुसार 'अरस्तू और प्लेटो के दर्शन में मतभेद होना स्वाभाविक था क्योंकि एक प्रकृति का अन्वेषक था और दूसरा सम्प्रत्ययों का। एक प्रकृति के प्रांगण में विहार करता था तो दूसरा प्रत्ययों के जगत् में। एक अनुभवमूलक जगत् की सत्ता में विश्वास करता था तो दूसरा लोकोत्तर जगत् की। एक मूर्त व्यक्ति (Concrete Indivisual) को पूर्ण सत् और ज्ञान का विषय मानता था तो दूसरा अमूर्त सामान्य (Abstract Universal) को।'[6]

अरस्तू ने भी अपने गुरू प्लेटो की भाँति प्रत्यय (सामान्य) को ही 'द्रव्य' माना। परन्तु अरस्तू के 'द्रव्य' की कल्पना प्लेटो के द्रव्य से बिल्कुल ही भिन्न है। अरस्तू के अनुसार सामान्य बुद्धि की कोरी कल्पना नहीं है बल्कि वास्तविक सत् है। उनकी दृष्टि में प्रत्ययों को इन्द्रिय–जगत् से परे करना ही प्लेटो की एक बड़ी भूल थी। प्रत्ययों के जगत को अरस्तू ने काल्पनिक आकाशीय जगत कहा है। अरस्तू के अनुसार प्लेटो ने पारमार्थिक और व्यावहारिक जगत् में इतना आत्यन्तिक भेद उत्पन्न कर दिया था कि दोनों में किसी भी प्रकार के सम्बन्ध की संभावना ही समाप्त हो गई थी। प्लेटो ने विज्ञानों को ही एक मात्र 'सत्' माना; प्रत्यय–जगत् केवल एक व्यावहारिक सत्ता है। पर विज्ञान–जगत् को इन्द्रियानुभव के वस्तु–जगत् से नितान्त भिन्न और असम्बद्ध मानकर प्लटो ने वस्तु जगत् को सर्वथा असत् बना दिया था; अरस्तू ने प्लेटो के इस द्वैत को समाप्त कर प्रत्यक्ष–जगत् की खोयी हुई सत्ता को पुनः लौटा दिया। प्रोफेसर थिली के शब्दों में कहें तो अरस्तू ने प्रत्यय (आकार) को आकाश से नीचे पृथ्वी पर उतार लिया।[7] अर्थात् अरस्तू ने बताया कि 'आकार' प्रत्यय 'वस्तु' से अलग नहीं बल्कि उसी वस्तु में अन्तर्निहित रहते हैं। अरस्तू के अनुसार विज्ञान–जगत् वस्तु–जगत् से सर्वथा भिन्न नहीं है, विज्ञान–जगत् वस्तु–जगत् में अनुस्यूत है, परमार्थ व्यवहार में अन्तर्निहित है। 'आकार' और 'पदार्थ' अलग नहीं बल्कि शाश्वत् रूप से एक साथ रहने वाले हैं। 'आकार' और 'वस्तु' मिलकर 'वस्तु–विशेष' की रचना करते हैं। यह इन्द्रिय–जगत् (व्यवहारिक जगत्) वास्तविक जगत् की नकल या छाया मात्र नहीं है। यह वास्तविक जगत् है। 'आकार' और पदार्थ एक–दूसरे में समाहित है और विज्ञान के सत्य विषय है। लेकिन अरस्तू ने प्रत्ययों (सामान्यों) की महत्ता को कम नहीं समझा बल्कि प्रत्ययों या सामान्यों का जो महत्व प्लेटो के दर्शन में था वही महत्व अरस्तू के दर्शन में भी है। अन्तर केवल इतना है कि प्लेटो के सामान्य (प्रत्यय) इन्द्रिय–जगत् के परे अतीन्द्रिय जगत् में निवास करते हैं और अरस्तू के विज्ञान, (सामान्य या आकार) प्रत्यक्ष जगत् से परे न होकर उसी में अनुगत है।

अरस्तू ने अपने दर्शन की शुरुआत सामान्य की विवेचना से ही आरम्भ की है जो कि प्लेटो के प्रत्यय (सामान्य) सिद्धान्त की आलोचना का प्रतिफल था। सामान्य के स्वरूप को निर्धारित करने के क्रम में सबसे पहले अरस्तू कारणता सिद्धान्त से आरम्भ करते हैं। कारणता सिद्धान्त में उन्होंने चार कारण बताये थे जिसको बाद में दो कारणों स्वरूप और जड़द्रव्य अर्थात् सामान्य और विशेष में अन्तर्निहित कर दिया। उनका कारणता सिद्धान्त स्वरूप और जड़द्रव्य के भेद का आधार बना। प्लेटो के समान अरस्तू भी सामान्य को वास्तविक मानते हैं लेकिन प्लेटो की भाँति सामान्यों के किसी अन्य लोक या जगत् की

कल्पना नहीं करते बल्कि सामान्यों की सत्ता को वस्तु जगत् के अन्तर्गत ही मानते हैं। अरस्तू ने सामान्यों को विशेषों में ही अन्तर्निहित माना है। वस्तु जगत् की प्रत्येक वस्तु में सामान्य और विशेष (आकार और जड़द्रव्य) पाया जाता है। सामान्य, विशेषों से अलग किसी अन्य लोक में नहीं बल्कि वस्तु में ही अन्तर्निहित होता है।

रसेल का सामान्य सम्बन्धी सिद्धान्त–सामान्य की वस्तुवादी अवधारणा के समर्थकों में ग्रीक दार्शनिक प्लेटो और अरस्तू के साथ रसेल का नाम भी प्रमुख रूप से आता है। रसेल ने भी प्लेटो और अरस्तू की ही भाँति सामान्य की समस्या पर गंभीर विवेचन किया है। उन्होंने भी सामान्यों की सत्ता को यथार्थ माना है जो भौतिक पदार्थों, मन और इन्द्रिय–प्रदत्तों से स्वतंत्र है। रसेल ने अपनी पुस्तक "The problem of Philosophy" में दर्शन जगत् की अनेक समस्याओं पर गंभीरता से विचार किया है। उन्हीं समस्याओं में से एक सामान्य की समस्या भी है जिस पर रसेल ने "The problem of Philosophy" के अध्याय 9 "The world of Universals" में विचार किया है और सामान्य का स्वरूप निर्धारित किया है।

रसेल के अनुसार सामान्य की समस्या दर्शन की एक मौलिक और प्राचीन समस्या है। इसे दर्शन जगत में लाने का श्रेय उन्होंने प्लेटो को दिया है अर्थात सामान्य की समस्या प्लेटो के दर्शन से आरम्भ होती है। उनके अनुसार प्लेटो का प्रत्यय सिद्धान्त, इस समस्या के समाधान का सबसे सफल प्रयास है। 'प्लेटो का प्रत्यय सिद्धान्त' हमें बताता है कि हम सम्बन्धों को किस प्रकार समझे। उनके सिद्धान्त को आत्मसात् करने या समझने के लिए, रसेल ने प्लेटो के न्याय की अवधारणा पर विचार किया है। यह पता करने के लिए कि न्याय अपने आप में क्या है, प्लेटो अपनी खोजी दृष्टि के साथ कुछ क्रियाओं की तरफ ध्यान देते हैं। वे देखते है कि वह कौन सा उभयनिष्ठ तत्व है जो उन सभी क्रियाओं में समान हैं। यही कारण है कि उसे एक सामान्य शब्द न्याय से निर्देशित किया जाता है। इस विधि को हम किसी भी अमूर्त वस्तु पर लागू कर सकतें हैं जैसे कि सफेदी। सफेदी के तत्व को असंख्य सफेद वस्तुओं पर लागू किया जा सकता है। ये सभी बातें उभयनिष्ठ तत्वों का विशेषों में भाग लेना कही जायेंगी। जो कि प्लेटो के 'प्रत्यय' या 'सामान्य' हैं। एक प्रत्यय किसी भी निर्देशित विषय के समान नहीं है, न्याय का प्रत्यय सिर्फ क्रिया के समान नहीं है, प्रत्यय इस दृश्य जगत् का एक अंश या भाग भी नहीं है जिसका हमें बोध होता है। ये प्रत्यय नित्य, अपरिवर्तनीय और अविनाशी है।

रसेल साधारण भाषा का विश्लेषण करते हैं और यह छान–बीन करते हैं कि हम आमतौर पर सामान्य शब्दों के बारे में कैसे सोचते हैं। उन्होंने कहा कि व्यक्तिवाचक नाम (Proper Name) विशेषों के लिए प्रयुक्त होते हैं जबकि अन्य सत्तासूचक पद (Substantives), विशेषण (Adjective), सम्बन्धसूचक पद (Preposition) और क्रियाएँ इत्यादि 'सामान्यों' के लिए प्रयुक्त होते हैं।[8] उन्होंने यह भी कहा कि मानवीय भाषा के प्रत्येक वाक्य में आदतन कम से कम एक शब्द ऐसा होता है जो सामान्य का निर्देश करता है। उनका कहना है कि सभी सत्य आवश्यक रूप से सामान्यों में शामिल है और उन सत्यों का हमारा ज्ञान सामान्यों के परिचयात्मक ज्ञान में शामिल है।[9]

रसेल ने कहा है कि सम्बन्ध विचारों पर आधारित नहीं होते। सम्बन्ध मन से उतना ही स्वतंत्र है, जितना कि वह उन इकाईयों से स्वतंत्र है जिन्हें वह सम्बन्धित करता है। सम्बन्ध एक

ऐसे जगत् से सम्बन्धित है जिसकी रचना में मन का कोई हस्तक्षेप नहीं होता और जिसका ज्ञान हमारे मन को होता है। रसेल द्वारा दिये गये उदाहरण 'एडिनबर्ग लंदन के उत्तर में है' में एडिनबर्ग और लंदन को सम्बन्धित करने वाला शब्द 'उत्तर में' है। यह सम्बन्ध 'उत्तर में' न तो लंदन में है और न ही एडिनबर्ग में और न ही वह किसी देश और काल में है। यह मानसिक भी नहीं है। अतः 'सामान्य' किसी व्यक्ति के मन में नहीं रहता, जो मन में होता है वह सामान्य नहीं बल्कि सम्बन्धित व्यक्ति का विचार होता है। किसी भी व्यक्ति का विचार किसी भी दूसरे व्यक्ति के विचार से समानता नहीं रखता अर्थात् दोनों के विचार एक दूसरे से भिन्न होते हैं चूँकि 'सम्बन्ध' एक 'सामान्य' है वह कभी भी विचार नहीं हो सकता है केवल वह विचार का विषय ही हो सकता है। रसेल सामान्यों के अस्तित्व को किसी देश–काल के अन्तर्गत नहीं मानते। इन्द्रियों के द्वारा ग्राह्य न होने पर भी वे सत् होते हैं। सामान्यों के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए रसेल 'वर्तिता' (Subsistent) शब्द का प्रयोग करते हैं। रसेल की वर्तिता काल सापेक्ष नहीं बल्कि उससे निरपेक्ष होती है। वस्तु–जगत् परिवर्तनशील होता है, परन्तु वर्तिता के जगत् को रसेल ने अपरिवर्तनशील माना है। दूसरे शब्दों में, वस्तु–जगत् का सम्बन्ध विशेष वस्तुओं से है, जो परिवर्तनशील हैं, देश–काल सापेक्ष हैं। प्लेटो ने वस्तु–जगत् को सामान्यों का प्रतिबिम्ब माना था लेकिन रसेल वस्तु–जगत् को सामान्यों की प्रतिच्छाया नहीं मानता वह दोनों को महत्व देता है।[10]

इस प्रकार हमदेखते हैं कि सामान्य के वस्तुवादी सिद्धान्त के समर्थकों प्लेटो, अरस्तू और रसेल के विचार एक दूसरे से भिन्न हैं। सभी ने अपने–अपने दार्शनिक सिद्धान्तों के अनुरूप सामान्य की समस्या पर विचार किया है। ये सभी दार्शनिक सामान्य के विषय में भले ही एक दूसरे से भिन्न मत रखते हों लेकिन सभी दार्शनिक सामान्यों को मानसिक अवधारणा या काल्पनिक नहीं मानते हैं बल्कि ये सभी दार्शनिक सामान्य को वस्तुनिष्ठ अर्थात् यथार्थ मानते हैं। इसीलिये इन सभी दार्शनिकों को सामान्य के वस्तुवादी सिद्धान्त के अर्न्तगत रखा गया है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. Woozley. A.D. (1949) : An Introduction to Theory of Knowledge, (Translated by G. Bhatt), Bihar Hindi Granth Academy, Patna (1971), p 70.
2. Ibid, p 73.
3. Stace, W.T. (1920) : A Critical History of Greek Philosophy, Macmillan and Co. Limited, London, p 143.
4. All Knowledge is Knowledge Through Concepts.
   Ibid, p 144.
5. Gomperz,Theodor (1905) : Greek Thinkers : History of Ancient Philosophy, J. Murray, London, p_p 77-78.
6. Stace, W.T. (1920) : A Critical History of Greek Philosophy, Macmillan and Co. Limited, London, p_p 261-262.
7. Thilly, Frank (1914) : A History of Philosophy, H. Holt and Company, New Yark, p 76.
8. Russell, B. (1912) : The Problems of Philosophy, London, Chapter-9, p 145.
9. Ibid, Chapter-9, p146.
10. Ibid, Chapter-9, p 158.
11. Philebus 20D, 60C, 61A.
12. जॉर्जियस 468 सी , 491 इ।
13. Philebus 20D, 11D, 22B, 64A.
14. Republic, 505B.
15. Ogden, C.K. (1956) : The Philosophy of Plato, Routledge and Kegan Paul Ltd..
16. Epistle VI.